International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

भारत के पर्यावरणीय आंदोलनों में महिलाओं की नेतृत्वकारी भूमिका: पर्यावरणीय प्रतिरोध से पर्यावरणीय न्याय तक का एक पारिस्थितिक नारीवादी विश्लेषण

अंकिता जायसवाल[1], पूजा[2], अमित कुमार उपाध्याय[3]

[1]शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
[2]शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
[3]सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सारांश:
भारत में पर्यावरणीय संकट और विकासात्मक विस्थापन के विरुद्ध उभरे अधिकांश जनांदोलनों की अगुवाई महिलाओं ने की है, फिर भी मुख्यधारा के नीति-विमर्श और अकादमिक साहित्य में उनकी भूमिका को प्रायः हाशिये पर रखा गया है। यह शोध-पत्र पारिस्थितिक नारीवाद (इकोफेमिनिज़्म) के सैद्धांतिक ढाँचे का उपयोग करते हुए भारत के प्रमुख महिला-नेतृत्व वाले पर्यावरणीय आंदोलनों—चिपको, अप्पिको, नर्मदा बचाओ आंदोलन, चिल्का मत्स्य आंदोलन तथा बीज सत्याग्रह—का विश्लेषण करता है। अध्ययन यह तर्क प्रस्तुत करता है कि महिलाओं की सहभागिता केवल प्रतीकात्मक विरोध तक सीमित नहीं रही, बल्कि उन्होंने आजीविका, जल, जंगल और भूमि के प्रश्नों को पर्यावरणीय न्याय के व्यापक ढाँचे से जोड़ा। पत्र यह भी परीक्षण करता है कि किस प्रकार स्थानीय प्रतिरोध की राजनीति धीरे-धीरे नीति-निर्माण, कानूनी अधिकार और संस्थागत सहभागिता की दिशा में विकसित हुई। अंत में, समकालीन जलवायु न्याय आंदोलनों में महिलाओं की बदलती भूमिका, उनके समक्ष विद्यमान संरचनात्मक बाधाओं तथा नीतिगत सुझावों पर चर्चा की गई है।

मूलशब्द: पारिस्थितिक नारीवाद, महिला नेतृत्व, पर्यावरणीय न्याय, चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, जलवायु न्याय

प्रस्तावना:
भारत विश्व के उन गिने-चुने देशों में है जहाँ पर्यावरणीय आंदोलनों का इतिहास सीधे-सीधे ग्रामीण एवं आदिवासी महिलाओं की रोज़मर्रा की आजीविका-संघर्ष से जुड़ा हुआ है। जंगल, पानी, चारागाह और कृषि-भूमि पर निर्भर रहने वाली महिलाओं ने जब भी इन संसाधनों पर व्यावसायिक दोहन अथवा राज्य-प्रायोजित विकास परियोजनाओं का संकट देखा, उन्होंने संगठित प्रतिरोध खड़ा किया। 1970 के दशक में उत्तराखंड के जंगलों को बचाने के लिए आरंभ हुआ चिपको आंदोलन इसका सबसे प्रतिनिधि उदाहरण है, जिसमें गौरा देवी जैसी ग्रामीण महिलाओं ने वाणिज्यिक कटाई के विरुद्ध पेड़ों से लिपटकर प्रतिरोध किया (Guha, 1989; Jain, 1984)। इसके पश्चात कर्नाटक का अप्पिको आंदोलन, गुजरात-मध्य प्रदेश-महाराष्ट्र में फैला नर्मदा बचाओ आंदोलन, ओडिशा का चिल्का बचाओ आंदोलन और वंदना शिवा द्वारा संचालित बीज-सत्याग्रह जैसे अनेक आंदोलनों में महिलाओं की केंद्रीय भूमिका देखी गई।
इन आंदोलनों का अध्ययन पारंपरिक रूप से या तो 'पर्यावरण इतिहास' के ढाँचे में हुआ है या फिर 'सामाजिक आंदोलन' के

दृष्टिकोण से, परंतु दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में लैंगिक आयाम को अक्सर गौण मान लिया गया। पारिस्थितिक नारीवाद इस अंतराल को भरने का प्रयास करता है—यह प्रतिपादित करता है कि प्रकृति के शोषण और महिलाओं के दमन की संरचनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं, और इसलिए पर्यावरणीय संकट का समाधान लैंगिक न्याय के बिना अधूरा है (Shiva, 1988; Mies & Shiva, 1993)। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी सैद्धांतिक आधार पर भारत के चयनित आंदोलनों का पुनरावलोकन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि किस प्रकार स्थानीय प्रतिरोध की राजनीति ने समय के साथ पर्यावरणीय न्याय के व्यापक और संस्थागत विमर्श का रूप लिया।

अध्ययन के उद्देश्य:

प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—(1) भारत के प्रमुख महिला-नेतृत्व वाले पर्यावरणीय आंदोलनों की ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि की समीक्षा करना; (2) पारिस्थितिक नारीवादी सिद्धांत की सहायता से इन आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका का विश्लेषण करना; (3) यह परखना कि प्रतिरोध की राजनीति किस प्रकार पर्यावरणीय न्याय की संस्थागत माँगों में परिवर्तित हुई; तथा (4) समकालीन जलवायु-संकट के संदर्भ में महिला नेतृत्व की चुनौतियों और संभावनाओं को रेखांकित करना। अध्ययन गुणात्मक है और द्वितीयक स्रोतों—शोध-पत्रों, पुस्तकों तथा सरकारी एवं गैर-सरकारी रिपोर्टों—पर आधारित है।

पारिस्थितिक नारीवाद: सैद्धांतिक ढाँचा:

पारिस्थितिक नारीवाद (इकोफेमिनिज़्म) की अवधारणा 1970 के दशक के अंत में फ्रांसीसी विचारक फ्रांस्वाज़ द्युबोन द्वारा प्रस्तुत की गई और बाद में कैरोलिन मर्चेंट, वंदना शिवा, मारिया मीज़ तथा वल प्लमवुड जैसे विद्वानों ने इसे विस्तार दिया। इस विचारधारा का केंद्रीय तर्क यह है कि पितृसत्तात्मक और पूँजीवादी विकास-मॉडल एक साथ प्रकृति और स्त्री, दोनों को 'दूसरा' (the Other) मानकर उनका दोहन करते हैं (Merchant, 1980)। वंदना शिवा (1988) अपनी पुस्तक Staying Alive में तर्क देती हैं कि भारतीय ग्रामीण महिलाओं का प्रकृति के साथ संबंध केवल भावनात्मक नहीं बल्कि उत्पादक और अस्तित्व-मूलक है—वे जल, ईंधन और चारे के संग्रहण के माध्यम से पारिस्थितिकी तंत्र का प्रत्यक्ष प्रबंधन करती हैं, और इसलिए पर्यावरणीय क्षरण का सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव भी उन्हीं पर पड़ता है।

बीना अग्रवाल (1992) ने 'नारीवादी पर्यावरणवाद' (feminist environmentalism) की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए शिवा की सारभूत (essentialist) व्याख्या की आलोचना की। उनका तर्क है कि महिलाओं का प्रकृति से जुड़ाव जैविक नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक श्रम-विभाजन का परिणाम है—चूँकि महिलाएँ पारिवारिक जीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक निर्भर होती हैं, इसलिए संसाधनों के क्षरण से उनकी आजीविका सर्वाधिक प्रभावित होती है, जिसके कारण वे संसाधन-संरक्षण के आंदोलनों में स्वाभाविक रूप से अग्रणी भूमिका निभाती हैं। यह अध्ययन दोनों दृष्टिकोणों—शिवा के सारभूत पारिस्थितिक नारीवाद और अग्रवाल के भौतिकवादी नारीवादी पर्यावरणवाद—को पूरक मानते हुए भारतीय आंदोलनों के विश्लेषण के लिए एक समन्वित ढाँचा अपनाता है।

इस ढाँचे में तीन विश्लेषणात्मक स्तंभ केंद्रीय हैं—प्रथम, आजीविका और पारिस्थितिकी के बीच का प्रत्यक्ष संबंध, जो महिलाओं को प्राकृतिक संसाधनों की प्राथमिक संरक्षक बनाता है; द्वितीय, सामुदायिक ज्ञान-परंपराएँ, जिनके माध्यम से महिलाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने की तकनीकों को सहेजती हैं; और तृतीय, संरचनात्मक असमानता, जो महिलाओं को निर्णय-प्रक्रिया से बाहर रखते हुए भी संसाधन-प्रबंधन के दायित्व से नहीं मुक्त करती। यही असंगति महिलाओं को प्रतिरोध की राजनीति की ओर प्रेरित करती है।

भारत में महिला-नेतृत्व वाले प्रमुख पर्यावरणीय आंदोलन:

चिपको आंदोलन (1973): उत्तराखंड के चमोली जनपद के रैणी गाँव में मार्च 1974 में गौरा देवी के नेतृत्व में स्थानीय महिलाओं ने एक ठेकेदार कंपनी द्वारा वृक्षों की कटाई रोकने के लिए पेड़ों से लिपटकर प्रतिरोध किया। यद्यपि सुंदरलाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद भट्ट जैसे पुरुष कार्यकर्ताओं को अक्सर आंदोलन के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है, किंतु शोध यह स्पष्ट करते हैं कि आंदोलन की वास्तविक शक्ति और निरंतरता ग्रामीण महिलाओं की सामूहिक भागीदारी में निहित थी (Jain, 1984)। महिलाओं के लिए जंगल केवल पारिस्थितिक संसाधन नहीं बल्कि दैनिक जीवन-निर्वाह—ईंधन, चारा, जल-संरक्षण—का आधार थे, इसलिए वाणिज्यिक वानिकी के विरुद्ध उनका प्रतिरोध आर्थिक अस्तित्व और पारिस्थितिक संतुलन दोनों से जुड़ा हुआ था। हरिप्रिया रंगन (2000) ने यद्यपि चिपको के 'रोमांटिक' प्रस्तुतीकरण की आलोचना करते हुए इसे स्थानीय राजनीतिक-आर्थिक हितों से भी जोड़ा है, तथापि महिलाओं की केंद्रीय भूमिका असंदिग्ध बनी हुई है।

अप्पिको आंदोलन (1983): कर्नाटक के पश्चिमी घाट क्षेत्र में चिपको से प्रेरित होकर आरंभ हुआ अप्पिको आंदोलन स्थानीय भाषा में 'आलिंगन' का प्रतीक है। इस आंदोलन में भी महिलाओं ने वाणिज्यिक वन-कटाई के विरुद्ध वृक्षारोपण और वन-संरक्षण के सामुदायिक कार्यक्रमों का नेतृत्व किया, जिसने आगे चलकर कर्नाटक की वन-नीति में सामुदायिक वन-प्रबंधन के प्रावधानों को सुदृढ़ करने में योगदान दिया।

नर्मदा बचाओ आंदोलन (1985 से): मेधा पाटकर के नेतृत्व में नर्मदा घाटी में सरदार सरोवर सहित अनेक बड़े बाँधों के विरुद्ध चला नर्मदा बचाओ आंदोलन भारत के सर्वाधिक सुसंगठित पर्यावरणीय-सामाजिक आंदोलनों में गिना जाता है। इस आंदोलन ने विस्थापन, पुनर्वास और सतत विकास के प्रश्नों को राष्ट्रीय नीति-विमर्श के केंद्र में ला दिया। अमिता बाविस्कर (1995) के अध्ययन के अनुसार आंदोलन में आदिवासी महिलाओं की भागीदारी केवल संख्यात्मक नहीं बल्कि रणनीतिक भी थी—वे न केवल धरना-प्रदर्शनों में अग्रिम पंक्ति में रहीं, बल्कि विस्थापन-विरोधी कानूनी लड़ाई और पुनर्वास-नीति के प्रारूपण में भी सक्रिय भागीदार बनीं। इस आंदोलन ने यह भी प्रदर्शित किया कि पर्यावरणीय प्रतिरोध किस प्रकार मानवाधिकार और सामाजिक न्याय के व्यापक ढाँचे से जुड़ सकता है।

चिल्का बचाओ आंदोलन तथा तटीय मत्स्य-आंदोलन:

ओडिशा की चिल्का झील में औद्योगिक झींगा-पालन के विस्तार के विरुद्ध स्थानीय मछुआरा समुदायों की महिलाओं ने 1990 के दशक में सशक्त प्रतिरोध खड़ा किया। पारंपरिक मत्स्य-अधिकारों की रक्षा हेतु संगठित यह आंदोलन दर्शाता है कि तटीय पारिस्थितिकी तंत्र पर निर्भर महिलाएँ किस प्रकार वैश्वीकरण-प्रेरित संसाधन-दोहन के विरुद्ध स्थानीय ज्ञान और सामूहिक संगठन-शक्ति का प्रयोग करती हैं।

बीज सत्याग्रह और नवदान्य आंदोलन:

वंदना शिवा द्वारा 1991 में स्थापित नवदान्य आंदोलन ने बीजों के निगमीकरण और आनुवंशिक रूप से संशोधित फसलों के विरुद्ध ग्रामीण महिलाओं को संगठित करते हुए बीज-संप्रभुता (seed sovereignty) की अवधारणा को लोकप्रिय बनाया। इस आंदोलन ने महिलाओं की पारंपरिक बीज-संरक्षण भूमिका को पारिस्थितिक ज्ञान की एक वैकल्पिक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित किया, जो जैव-विविधता संरक्षण और खाद्य-सुरक्षा दोनों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

शहरी पर्यावरणीय संघर्ष:

ग्रामीण-आदिवासी आंदोलनों के अतिरिक्त शहरी भारत में भी महिलाओं ने वायु-प्रदूषण, अपशिष्ट-प्रबंधन और जल-संकट के विरुद्ध स्थानीय नागरिक-मंचों का नेतृत्व किया है। दिल्ली, मुंबई और बेंगलुरु जैसे महानगरों में 'वॉरियर मॉम्स' जैसे महिला-नेतृत्व वाले नागरिक-समूहों ने वायु-गुणवत्ता को सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रश्न के रूप में स्थापित करते हुए नीति-निर्माताओं

पर जवाबदेही का दबाव बनाया है, जो यह दर्शाता है कि पारिस्थितिक नारीवादी प्रतिरोध केवल ग्रामीण परिघटना नहीं रह गया है।

पर्यावरणीय प्रतिरोध से पर्यावरणीय न्याय की ओर संक्रमण:

प्रारंभिक चरण में अधिकांश आंदोलन तात्कालिक संसाधन-संरक्षण अथवा विस्थापन-विरोध पर केंद्रित थे, जिन्हें 'पर्यावरणीय प्रतिरोध' (environmental resistance) की श्रेणी में रखा जा सकता है। किंतु समय के साथ इन आंदोलनों की माँगें केवल संरक्षण तक सीमित न रहकर वितरणात्मक, प्रक्रियात्मक और मान्यता-संबंधी न्याय के प्रश्नों में विस्तारित हुईं—अर्थात संसाधनों के न्यायसंगत बँटवारे (distributive justice), निर्णय-प्रक्रिया में सहभागिता (procedural justice) और स्थानीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान तथा अधिकारों की मान्यता (recognition justice) की माँगें प्रबल हुईं। यह संक्रमण 'पर्यावरणीय न्याय' (environmental justice) के व्यापक वैश्विक विमर्श से मेल खाता है, जिसकी जड़ें 1980 के दशक के अमेरिकी नागरिक-अधिकार आंदोलन में हैं, परंतु भारतीय संदर्भ में इसने जाति, जनजाति और लैंगिक असमानता के साथ अंतर्संबंधित रूप धारण किया।

नर्मदा बचाओ आंदोलन इस संक्रमण का सर्वोत्तम उदाहरण है—आंदोलन ने केवल बाँध-निर्माण रोकने की माँग से आगे बढ़कर पुनर्वास एवं पुनर्स्थापन नीति (Resettlement and Rehabilitation Policy) में सुधार, भूमि-अधिग्रहण कानून में संशोधन और सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिकाओं के माध्यम से संस्थागत न्याय की माँग की। इसी प्रकार वन अधिकार अधिनियम, 2006 (Forest Rights Act) के निर्माण की प्रक्रिया में आदिवासी महिला-संगठनों की सक्रिय भागीदारी ने सामुदायिक वन-अधिकारों को कानूनी मान्यता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार महिला-नेतृत्व वाले आंदोलनों ने सड़क के प्रतिरोध को धीरे-धीरे नीति-निर्माण, विधायी सुधार और न्यायिक सक्रियता के औपचारिक मार्गों से जोड़ा।

वर्तमान में जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में यह संक्रमण और भी स्पष्ट रूप से 'जलवायु न्याय' (climate justice) के रूप में प्रकट हो रहा है। सूखा, बाढ़ और अनियमित मानसून से सर्वाधिक प्रभावित समुदायों में ग्रामीण महिलाएँ शामिल हैं, जो जल-प्रबंधन, कृषि-अनुकूलन और आपदा-प्रत्यास्थता (disaster resilience) से जुड़े स्थानीय नवाचारों में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। महिला किसान अधिकार मंच तथा स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से जलवायु-अनुकूल कृषि पद्धतियों को अपनाना इस बात का प्रमाण है कि पर्यावरणीय न्याय की राजनीति अब वैश्विक जलवायु-कूटनीति के साथ भी जुड़ने लगी है।

महिला-नेतृत्व की विशिष्टताएँ:

इन आंदोलनों के तुलनात्मक अध्ययन से महिला-नेतृत्व की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आती हैं। प्रथम, महिलाओं का नेतृत्व प्रायः अनौपचारिक और सामूहिक होता है—वे व्यक्तिगत करिश्मे के बजाय सामुदायिक एकजुटता और पारस्परिक विश्वास के आधार पर संगठन खड़ा करती हैं। द्वितीय, उनकी माँगें प्रायः अहिंसक प्रतिरोध की पद्धतियों—धरना, सत्याग्रह, वृक्ष-आलिंगन—के माध्यम से व्यक्त होती हैं, जो गांधीवादी परंपरा से प्रभावित रही हैं। तृतीय, महिलाएँ पारिस्थितिक तर्क को आजीविका, स्वास्थ्य और पारिवारिक सुरक्षा के व्यावहारिक तर्कों के साथ जोड़ती हैं, जिससे आंदोलन को व्यापक सामाजिक समर्थन प्राप्त होता है। चतुर्थ, दीर्घकाल में महिलाओं के नेतृत्व ने स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं—जैसे वन-पंचायतें, जल-उपयोगकर्ता समूह और स्वयं सहायता समूह—के सुदृढ़ीकरण में योगदान दिया है, जिससे प्रतिरोध की राजनीति संस्थागत सहभागिता में परिवर्तित हुई है।

समकालीन चुनौतियाँ:

इन उपलब्धियों के बावजूद महिला-नेतृत्व वाले पर्यावरणीय आंदोलनों के समक्ष अनेक संरचनात्मक चुनौतियाँ बनी हुई हैं।

पहली चुनौती है औपचारिक निर्णय-प्रक्रिया में महिलाओं का सीमित प्रतिनिधित्व—पंचायती राज संस्थाओं और वन-प्रबंधन समितियों में महिलाओं की संख्यात्मक उपस्थिति तो बढ़ी है, परंतु वास्तविक निर्णायक शक्ति अब भी पुरुष-प्रधान संरचनाओं के हाथ में केंद्रित है। दूसरी चुनौती है श्रम का दोहरा बोझ—पर्यावरणीय सक्रियता में समय देने वाली महिलाओं को घरेलू और कृषि-श्रम की जिम्मेदारियों से मुक्ति नहीं मिलती, जिससे उनकी दीर्घकालिक सहभागिता सीमित हो जाती है। तीसरी चुनौती है आंदोलनों का अकादमिक एवं मीडिया प्रतिनिधित्व, जिसमें पुरुष नेताओं को अधिक दृश्यता मिलती है जबकि महिलाओं के योगदान को 'सहायक भूमिका' तक सीमित कर दिया जाता है (Rangan, 2000)। चौथी चुनौती जलवायु-वित्त और अनुकूलन-नीतियों में लैंगिक-संवेदनशील दृष्टिकोण की कमी है—राष्ट्रीय और राज्य स्तर की जलवायु कार्ययोजनाओं में महिलाओं की विशिष्ट भेद्यताओं (vulnerabilities) और ज्ञान-प्रणालियों को पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाता।

इसके अतिरिक्त, उदारीकरण-पश्चात भारत में तीव्र औद्योगीकरण, खनन-विस्तार और अवसंरचना-परियोजनाओं ने विस्थापन के नए मोर्चे खोले हैं, जहाँ आदिवासी और दलित महिलाओं को दोहरे उत्पीड़न—लैंगिक असमानता और जातीय-भेदभाव—का सामना करना पड़ता है। ऐसे में पारिस्थितिक नारीवादी विश्लेषण को अंतर्संबंधता (intersectionality) के दृष्टिकोण से और अधिक समृद्ध करने की आवश्यकता है, ताकि जाति, वर्ग और लैंगिकता के जटिल अंतर्संबंधों को समुचित रूप से समझा जा सके।

निष्कर्ष एवं सुझाव:

भारत के पर्यावरणीय आंदोलनों के इतिहास का पुनरावलोकन यह स्पष्ट करता है कि महिलाएँ केवल पीड़ित पक्ष नहीं बल्कि पारिस्थितिक प्रतिरोध की प्रमुख वाहक और नीति-परिवर्तन की सक्रिय एजेंट रही हैं। चिपको से लेकर नर्मदा बचाओ और समकालीन जलवायु-अनुकूलन पहलों तक, महिला-नेतृत्व ने प्रतिरोध की तात्कालिक राजनीति को पर्यावरणीय न्याय के दीर्घकालिक, संस्थागत ढाँचे में रूपांतरित करने में केंद्रीय भूमिका निभाई है। तथापि, इस नेतृत्व को औपचारिक मान्यता, संसाधन और संस्थागत सहभागिता की दृष्टि से अभी भी पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाया है।

इस अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं—(1) वन-पंचायतों, जल-उपयोगकर्ता समितियों और आपदा-प्रबंधन प्राधिकरणों में महिलाओं की निर्णायक भागीदारी सुनिश्चित करने हेतु न्यूनतम प्रतिनिधित्व से आगे बढ़कर नेतृत्व-पदों में आरक्षण की नीति अपनाई जाए; (2) राष्ट्रीय एवं राज्य जलवायु कार्ययोजनाओं में लैंगिक-संवेदनशील बजट और आंकड़ा-संग्रहण प्रणाली को अनिवार्य किया जाए; (3) ग्रामीण महिलाओं के पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान को वैज्ञानिक अनुसंधान और नीति-निर्माण में औपचारिक मान्यता तथा दस्तावेज़ीकरण प्राप्त हो; (4) अकादमिक और मीडिया विमर्श में महिला-नेतृत्व वाले आंदोलनों के इतिहास-लेखन को पुनर्संतुलित किया जाए ताकि उनका योगदान उचित रूप से दर्ज हो सके; तथा (5) आदिवासी, दलित और शहरी गरीब महिलाओं के अंतर्संबंधित अनुभवों को केंद्र में रखते हुए पर्यावरणीय न्याय की नीतियों का पुनर्निर्माण किया जाए। यदि ये सुधार लागू किए जाएँ, तो भारत का पर्यावरणीय न्याय-विमर्श न केवल अधिक समावेशी बनेगा, बल्कि सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में भी अधिक प्रभावी सिद्ध होगा।

संदर्भ (References):

1. Agarwal, B. (1992). The gender and environment debate: Lessons from India. Feminist Studies, 18(1), 119–158. https://doi.org/10.2307/3178217
2. Baviskar, A. (1995). In the belly of the river: Tribal conflicts over development in the Narmada Valley. Oxford University Press.
3. Guha, R. (1989). The unquiet woods: Ecological change and peasant resistance in the Himalaya. Oxford University Press.
4. Jain, S. (1984). Women and people's ecological movement: A case study of women's role in the Chipko

movement in Uttar Pradesh. Economic and Political Weekly, 19(41), 1788–1794.
5. Merchant, C. (1980). The death of nature: Women, ecology, and the scientific revolution. Harper & Row.
6. Mies, M., & Shiva, V. (1993). Ecofeminism. Zed Books.
7. Ministry of Environment, Forest and Climate Change. (2022). India's third national communication to the United Nations Framework Convention on Climate Change. https://moef.gov.in
8. Rangan, H. (2000). Of myths and movements: Rewriting Chipko into Himalayan history. Verso.
9. Shiva, V. (1988). Staying alive: Women, ecology and survival in India. Zed Books.
10. Shiva, V. (1991). The violence of the green revolution: Third World agriculture, ecology and politics. Zed Books.
11. Sundar, N. (2000). Unpacking the 'joint' in joint forest management. Development and Change, 31(1), 255–279. https://doi.org/10.1111/1467-7660.00152
12. United Nations Development Programme. (2022). Gender and climate change: India country report. https://www.undp.org/india
13. Warren, K. J. (2000). Ecofeminist philosophy: A western perspective on what it is and why it matters. Rowman & Littlefield.
14. राष्ट्रीय महिला आयोग। (2023)। महिला और पर्यावरण: वार्षिक प्रतिवेदन। https://ncw.nic.in
15. नीति आयोग। (2023)। जेंडर इंक्लूजन रिपोर्ट। https://www.niti.gov.in